क्या एंटीबायोटिक दवाएँ बेकार होती जा रही हैं?

सत्यजित रथ



भोपाल के दोस्तों को मेरा नमस्कार। शुरुआत करने से पहले दो-तीन चीज़ों के लिए माफी चाहता हूँ। एक तो ये कि मेरी हिन्दी बहुत अच्छी नहीं है। माफ कर दीजिएगा। जब कभी किसी शब्द के लिए अटकूँगा तो या तो मराठी शब्द आएगा या संस्कृत या कभी अँग्रेज़ी शब्द आएगा। समझ लीजिएगा, और अगर किसी को समझ में न आए तो बिना झिझक हाथ खड़ा कर पूछ लीजिएगा। उसमें कोई परेशानी नहीं है।

दूसरी बात यह है कि हमारी जो वैज्ञानिक शब्दावली है जिसे 'ऑफिशियल टेक्निकल लैंग्वेज' कहते हैं - हिन्दी में हो, मराठी में हो, जिस किसी भाषा में हो वो आम लोगों को समझ नहीं आती है। यहाँ तक कि

अगर जो बिलकुल शुद्ध शब्द है, उसका प्रयोग करने लगूँ तो आधे से भी अधिक लोगों को कुछ भी समझ में नहीं आएगा। तो इसलिए भी अगर मुझे लगे कि मैंने ऐसे पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया जो बिलकुल समझ में नहीं आया तो मैं अँग्रेज़ी का प्रयोग करूँगा। उसमें अँग्रेज़ी को प्रमाण मानने की बात नहीं है, समझने की बात है।

तो विषय है कि क्या एंटीबायोटिक दवाएँ बेकार होती जा रही हैं? विश्व स्वास्थ्य संगठन ने एक रपट में दर्ज किया है, जिसमें उन्होंने काफी अलग-अलग विषयों का सर्वेक्षण करके ये तय किया कि जो इन्फेक्शन करने वाले बैक्टीरिया हैं उनमें एंटीबायोटिक प्रतिरोध का बहुत बड़े पैमाने पर फैलाव हुआ है और ये बहुत चिन्ता का विषय है। इस चिन्ता को लेकर अब क्या-क्या करना चाहिए ये भी रपट में दर्ज है। लेकिन मैं रपट की बात नहीं करने जा रहा, मैं जो चीज़ें कहने जा रहा हूँ उनमें तीन प्रमुख भाग हैं। एक तो शुरुआत में हम थोड़ा सोचें कि बैक्टीरिया क्या करते हैं, एंटीबायोटिक कहाँ से आता है और एंटीबायोटिक बैक्टीरिया पर क्या असर करता है। ये प्राथमिक जानकारी है, थोड़ा उसका रिवीज़न करना है। दूसरा भाग ये है कि बहुत बड़े पैमाने पर, खासकर मीडिया में एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंट बैक्टीरिया को 'सुपर बग' कहा गया है। अगर एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंट बैक्टीरिया को बार-बार यहाँ-वहाँ सुपर बग कहा गया है तो मैं आपको इस बारे में थोड़ी जानकारी भी दूँगा और मेरी आशा है कि आप सचेत हो जाएँ कि क्या सचमुच सुपर बग है? सुपर बग का मतलब हमारे लिए क्या है और क्या होना चाहिए। और जो मीडिया कहती है और जो सच्चाई है उसमें क्या फर्क है। ये हुई दूसरी बात। तीसरी बात जो मैं सामने रखने जा रहा हूँ वो ये है कि जब हम इस तरीके से विषय को देखते हैं कि क्या एंटीबायोटिक दवाएँ भविष्य में खराब हो जाएँगी तो उसमें बहुत सारे सामाजिक-आर्थिक सम्बन्ध और उसके ताने-बाने उभरते हैं - जैसे कि एंटीबायोटिक दवाएँ कौन ईजाद करता है, बनाता कौन है, बेचता कौन है, उसे इस्तेमाल करने के निर्देश कौन देता है, उसकी खरीददारी कौन करता है, और इन सम्बन्धों के ताने-बाने से हमारे सामने भविष्य का किस प्रकार का चित्र बनता है और समाज में, सामाजिक हित के लिए इन सम्बन्धों के बारे में हमें किस तरह से सोचना चाहिए, किस तरह के सार्वजनिक विमर्श की कमी है – इस पर बात करूँगा।

बैक्टीरिया और बीमारी

तो पहले शुरुआत करते हैं कि बैक्टीरिया बीमारी कैसे पैदा करते हैं, एंटीबायोटिक कहाँ से आते हैं और एंटीबायोटिक बैक्टीरिया पर क्या असर करते हैं।

बैक्टीरिया शरीर में क्यों आते हैं? बैक्टीरिया शरीर में इसलिए आते हैं

क्योंकि बैक्टीरिया को *हाई एनर्जी फूड* की ज़रूरत होती है। उसी तरह जैसे बच्चों को ज़रूरत होती है जिन्हें इस तरह का खाना हम देते हैं। मान लीजिए, आपको काँटा चुभ गया। और काँटे की नोक पर जो बैक्टीरिया बैठे हैं वे चमड़ी के नीचे रह गए। अब चमड़ी के नीचे, हमारे शरीर के अन्दरूनी भाग में भारी मात्रा में ग्लूकोज़, अनेक किस्म की शर्कराएँ, प्रोटीन और वसा हैं। ये सारे बेहद जटिल बायो-मॉलिक्यूल हैं और जब इनका विच्छेदन होता है तो बहुत सारी ऊर्जा जैविक प्रक्रियाओं के लिए हासिल हो सकती है। इसलिए जब बैक्टीरिया के लिए इतने मॉलिक्यूल उपलब्ध होते हैं तो बैक्टीरिया का विभाजन होने लगता है और उनकी आबादी भी बढ़ने लगती है।

ज़ाहिर है कि बैक्टीरिया के लिए भोजन की उपलब्धता के हिसाब से शरीर में होना बड़ा फायदेमन्द है। अगर शरीर के दृष्टिकोण से देखें तो जब काँटा चुभता है तो दो-चार बैक्टीरिया चमड़ी में आ जाते हैं। अब बैक्टीरिया का आकार कितना होता है? एक-दो माइक्रोमीटर। माइक्रोमीटर का मतलब एक मिलीमीटर का एक हज़ारवाँ हिस्सा। तो दो माइक्रोमीटर का जीव खा-खाकर भी कितना खाएगा? एक बैक्टीरिया कितना खाएगा ये एक प्रश्न हो गया। लेकिन एक बैक्टीरियम अगर हर 20 मिनट में दो बैक्टीरिया हो जाएँ तो चालीसवें मिनट में चार हो जाएँगे और साठवें मिनट में आठ हो जाएँगे। आपको लगता है कि अभी भी बहुत कुछ नहीं बिगड़ा? आप आगे गुणा करते जाइएगा सात-आठ घण्टों में इतने हो जाएँगे कि आपके शरीर में समा नहीं पाएँगे! यानी कि शरीर के लिए बैक्टीरिया की आबादी बढ़ना बड़ा खतरनाक होता है। क्योंकि जब तक एक-दो होते हैं तब तक कोई परेशानी नहीं होती लेकिन जितनी उनकी आबादी बढ़े उतनी ही उनकी सामूहिक भूख बढ़ती है। और वो जितना खाने लगते हैं, उतना ही बढ़ने लगते हैं। और वो जहाँ बैठे होते हैं उस ऊतक (टिशू) में जो कार्य होता है उस कार्य में अड़चन आने लगती है क्योंकि इतने बैक्टीरिया हो जाते हैं कि अगर लीवर में होंगे तो लीवर का काम नहीं हो पाएगा और अगर फेफड़ों में होंगे तो फेफड़ों का काम नहीं हो पाएगा। इस तरह से इन्फेक्शन शरीर को नुकसान पहुँचाते हैं।

इन्फेक्शन का मुकाबला

इनसे निपटा कैसे जाए? जैसा कि कहा गया, मैं पिछले दो दिनों से एक कार्यशाला में होशंगाबाद में था जहाँ बात हो रही थी कि जब बैक्टीरिया शरीर के अन्दर आते हैं तो शरीर की जो प्रतिरक्षा व्यवस्था (इम्यून सिस्टम) है वो किस तरीके से बैक्टीरिया को पहचानती है। किस तरीके से यह तय करती है कि किस प्रकार के बैक्टीरिया हैं और उनके खिलाफ किस तरीके की

रणनीतियाँ अपनाई जाएँ जिससे वे खत्म हो जाएँ। ये हुई एक बात इम्यून सिस्टम की जिसके ज़रिए हम बैक्टीरिया से निपट सकते हैं। आप कहेंगे कि जैविक विकास कितने हज़ारों-लाखों सालों से होता आया है और उसमें हमें एक अन्दरूनी व्यवस्था मिली है – प्रतिरक्षा व्यवस्था, बैक्टीरिया के साथ जूझने के लिए। और वो काफी होनी चाहिए!

मगर जैविक विकास में और सामाजिक-सांस्कृतिक जगत में एक बड़ा फर्क है। जैविक विकास एक व्यक्ति को महत्वपूर्ण नहीं मानता...जब तक प्रजाति ज़िन्दा है तब तक जैविक विकास चलता रहेगा। लेकिन सामाजिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो हर व्यक्ति को हम मूल्यवान मानते हैं। साफ ज़ाहिर है कि जो व्यवस्था हमें सांख्यिकीय स्तर पर मदद करती है जैसे कि अगर हममें से सौ लोगों को एक इन्फेक्शन हो गया और मान लीजिए कि सौ में बीस-तीस भी मर गए तो भी सत्तर ज़िन्दा बचेंगे। और अगर सत्तर बच गए तो उनसे प्रजाति बनी रहेगी। तो बीस-तीस के मरने का जैविक विकास को कोई दुख नहीं है[1]। लेकिन समाज के रूप में हमें उन तीस का बड़ा दुख होता है, हरेक का और इसीलिए हम दवाइयों का उपयोग करते हैं। यह पूछा जाता है कि हमारी अन्दरूनी व्यवस्था तो है ही, फिर हमें दवाइयाँ क्यों चाहिए? हमें दवाइयाँ इसलिए चाहिए क्योंकि हमारी जो अन्दरूनी व्यवस्थाएँ हैं वे हमारी ओर सिर्फ सांख्यिकीय दृष्टिकोण से देखती हैं, *स्टैटिस्टिकल प्रॉबेबिलिटी* बतौर देखती हैं। वो हर व्यक्ति का आदर नहीं करती हैं। और हम सामाजिक दृष्टिकोण से हर व्यक्ति का आदर करते हैं और इसीलिए हमें दवाओं की ज़रूरत है। तो दवाएँ क्या करेंगी? बाकी दवाओं की बात हम आज नहीं करेंगे। आज हम सिर्फ एंटीबायोटिक दवाओं की बात करेंगे।

एंटीबायोटिक के स्रोत

एंटीबायोटिक क्या है? पहला सवाल कि एंटीबायोटिक आया कहाँ से? मैं जो कहने जा रहा हूँ वह एकाध अपवाद को छोड़कर सारी एंटीबायोटिक दवाओं के लिए सही है। सबने अपनी पाठ्यपुस्तकों में पढ़ा होगा कि पहली एंटीबायोटिक सर एलेक्जैंडर फ्लेमिंग ने खोजी थी। वो कैसे ईजाद हुई थी? वे एक बैक्टीरियल कल्चर मीडियम में एक प्लेट पर बैक्टीरिया उगा रहे थे, उसकी खेती कर रहे थे। वैसे तो ये कपोल-कल्पित कथा है जिसमें कोई सच्चाई नहीं है। लेकिन एक कथा बतौर मैं सबको याद दिलाता हूँ कि प्लेट खुली रह गई तो किसी फफूँद के स्पोर्स (बीजाणु) आकर उसमें गिरे और

[1] *वैसे जैव-विकास एक प्राकृतिक प्रक्रिया है जो न किसी जीव, और न ही किसी प्रजाति को बनाए रखने का सोचती है। दूसरे शब्दों में, जैव-विकास किन्हीं एक-दो व्यक्तियों पर नहीं, प्रजाति की आबादी पर काम करता है।*

फफूँद बढ़ने लगी। जब फफूँद बढ़ने लगी तो उस फफूँद की जो कॉलोनी थी उसके इर्द-गिर्द बैक्टीरिया मर गए! तो फ्लोरी (ऑस्ट्रेलियाई औषध विज्ञानी और चिकित्सक) और फ्लेमिंग ने सोचा कि फफूँद कोई ऐसा पदार्थ बना रही है जिसकी वजह से बैक्टीरिया मर रहे हैं। चूँकि उस फफूँद का नाम पेनिसीलियम था इसीलिए जो पदार्थ ईजाद हुआ उसे हमने पेनिसिलिन कह दिया। और पेनिसिलिन के बाद ऐसी और कई फफूँदों से कई सारी एंटीबायोटिक दवाओं की खोज हमने की।

फफूँद और बैक्टीरिया की लड़ाई

कोई ये क्यों नहीं पूछता कि फफूँद भला एंटीबायोटिक क्यों बनाती है? हम लोगों के लिए बनाती है? अब फफूँद इन्सानों की मदद करने की कोशिश तो कतई नहीं कर रही होगी। वो अपने काम के लिए किसी तरह से एंटीबायोटिक का इस्तेमाल करती होगी। तो पहले ये पूछें कि फफूँद के लिए बैक्टीरिया को मारने वाला ज़हर बनाने की ज़रूरत ही क्या है? क्योंकि फफूँद के दृष्टिकोण से वो जो बना रही है वो बैक्टीरिया को मारने वाला एक ज़हर है जो ज़हर सिर्फ बैक्टीरिया पर काम करता है, फफूँद पर नहीं और हम लोगों की कोशिकाओं पर भी काम नहीं करता।

तो इकोसिस्टम में, पर्यावरण में - निशेज़[2] होते हैं। और निश में कई अलग-अलग प्रजातियाँ एक-दूसरे के साथ रहती हैं। ऐसा नहीं है कि वे एक-दूसरे से सोच-समझ कर मेल-जोल करके जीती हैं। ऐसा बिलकुल नहीं है। फिर भी एक-दूसरे के साथ कन्धे-से-कन्धा मिला के उनका जीवन बीतता है। अब फंगस जिस पर्यावरणीय नीश में जीती है वहाँ पर बैक्टीरिया भी मौजूद हैं। तो फंगस एंटीबायोटिक का उपयोग इसलिए करती है क्योंकि उसे अपने विकास के लिए, अपनी बढ़ोतरी के लिए जगह बनानी होती है। अगर उसके इर्द-गिर्द बैक्टीरिया होंगे तो उसकी जगह कम हो जाएगी। उसकी लिविंग स्पेस कम हो जाएगी। और अगर उसको अपनी लिविंग स्पेस बढ़ानी है तो उस सम्भावित लिविंग स्पेस में जो बाकी जीव हैं, जैसे बैक्टीरिया, उनको मारना होगा। फफूँद अपनी लिविंग स्पेस बढ़ाने के लिए बैक्टीरिया के खिलाफ एक ज़हर बनाती है। ये रही फफूँद की बात। इसका मतलब ये कि हज़ारों-लाखों सालों से फंगस और बैक्टीरिया का ये आपस का झगड़ा चलता आया है। अगर ऐसा है तो फंगस के ज़रिए बैक्टीरिया बहुत बड़े पैमाने पर मरते होंगे और जो बैक्टीरिया ज़िन्दा रहते होंगे उनमें इस ज़हर का प्रतिरोध करने की कोई

[2] *निश किसी भी प्रजाति के सदस्यों की अपने पर्यावरण में भूमिका का विवरण है। यह बताता है कि उस प्रजाति के सदस्य पर्यावरण में किन विशिष्ट संसाधनों (रहने के स्थान, भोज्य पदार्थ, प्रकाश वगैरह) का उपयोग किन विशिष्ट तरीकों से करते हैं।*

शक्ति होगी। ये नेचुरल सिलेक्शन (प्राकृतिक चयन) की बात है। तो पहली बात ये है कि एंटीबायोटिक प्रतिरोध हमने नहीं ईजाद किया। ये जो दो जीवों का एक-दूसरे से लेन-देन का ताना-बाना है, इसी में, तय है कि ऐसा होना है और ऐसा होता ही आया है।

प्रतिरोधक बैक्टीरिया कैसे फैलते हैं?

कल हम नर्मदा किनारे खड़े थे होशंगाबाद में। नर्मदा को देखो तो बीच मझधार में पानी ज़ोर-से बहता है, लेकिन बिलकुल किनारे के पास पानी थमा-थमा रहता है। और गौर से देखो तो जहाँ पानी ज़ोर-से बहता है और जहाँ पानी थमा हुआ है उसके बीच एक बॉर्डर-सी दिखाई देती है। ये सबने देखी है, किसी भी नदी में। सिर्फ नर्मदा की बात करने की ज़रूरत नहीं है बल्कि किसी भी नदी में...। मैंने वहाँ खड़े लोगों से कहा मझधार में जो बैक्टीरिया हैं और थमे हुए पानी में जो बैक्टीरिया हैं, वो एक-दूसरे से बात भी नहीं करते! वो जो बैक्टीरियल कम्यूनिटीज़ (समुदाय) हैं वो बिलकुल अलग-अलग हैं। एक ज़माने में मनुष्यों के बीच भी ऐसा ही था। बात हो रही थी कि होशंगाबाद में विंध्याचल है और फिर नर्मदा। तो ऊपर किले में जो पुराने राजा बैठे थे उन्हें किसी का डर नहीं था क्योंकि उनका किसी से बड़े पैमाने पर कुछ लेन-देन नहीं था। अब अगर हम फंगस और बैक्टीरिया को देखें तो एक जगह फंगस और बैक्टीरिया की लेन-देन से एक रेज़िस्टेंट (प्रतिरोधक) बैक्टीरियम निकला। लेकिन उस रेज़िस्टेंट बैक्टीरियम ने वहीं अपना अड्डा जमा लिया। वो और कहीं नहीं जाएगा तो और कहीं का बैक्टीरियम तो सेंसिटिव (संवेदनशील) ही रहेगा। ये अवरोध हैं जो पर्यावरणीय नीश की वजह से निर्मित होते हैं। और इस वजह से बहुत बड़े पैमाने पर जिन बैक्टीरिया ने फंगस के साथ जैविक व्यवहार नहीं किया है उनमें रेज़िस्टेंस (प्रतिरोध) नहीं होता है। यही वजह है कि फ्लोरी व फ्लेमिंग ने पेनिसिलिन का प्रयोग एक ऐसे इन्फेक्शन पर किया जिसके बैक्टीरिया शरीर में घुसेंगे और शरीर में अपना जीवन व्यतीत करेंगे। उनके जीवन में फफूँद के साथ कोई लेन-देन तो था ही नहीं इसलिए उनमें ये प्रतिरोधक शक्ति उपजी ही नहीं।

इसी वजह से पिछले 70-80 सालों में हम एंटीबायोटिक का प्रयोग हमारे शरीर में इन्फेक्शन फैलाने वाले बैक्टीरिया के खिलाफ कर पाए। अब बात ये है कि पिछले इतने दशकों में जो बैक्टीरिया हमारे अन्दर आए हैं, हमने उनके खिलाफ बहुत सारे एंटीबायोटिक निकाले और उन पर बरसाए। इस हद तक बरसाए कि बहुत पैमाने पर बैक्टीरिया की प्रजातियाँ मरने लगीं। इसके चलते सिलेक्शन का दबाव बना उन बैक्टीरिया पर। जब इतने बड़े पैमाने पर बैक्टीरिया मरने लगे तो उनमें से थोड़े-बहुत

बैक्टीरिया बच जाते थे जिनमें प्रतिरोध की शक्ति थी। जो बैक्टीरिया बच जाते थे उनमें बहुत बड़े पैमाने पर रेज़िस्टेंस (प्रतिरोधिता) दिखी।

आपको यह सुनकर अचरज होगा कि सबसे पहले एंटीबायोटिक्स से बैक्टीरियल रेज़िस्टेंस कहाँ दिखाई देता है। और इसका उत्तर है अस्पतालों में! अस्पतालों में मरीज़ भर्ती होता है, आइ.सी.यू. में जाता है। कई बार मरीज़ हफ्तों-महीनों अस्पताल में रहते हैं। कई बार मरीज़ों को ज़ख्म होते हैं जो खुले होते हैं और बार-बार उनकी ड्रेसिंग करनी पड़ती है। फिर भी ज़ख्म तो आखिर ज़ख्म होते हैं। तो अस्पताल के पर्यावरण में जितने बैक्टीरिया हैं और चूँकि वो अस्पताल है तो बहुत बड़े पैमाने पर एंटीबायोटिक का प्रयोग हो रहा है, तो इनमें से जो बचे हुए बैक्टीरिया हैं ज़ाहिर है कि उनमें बहुत बड़े पैमाने पर रेज़िस्टेंस होगा। इसे 'नोसोकोमियल इन्फेक्शन' कहते हैं - अस्पतालों में होने वाला इन्फेक्शन। और हम बरसों से जानते हैं कि नोसोकोमियल इन्फेक्शन में - हॉस्पिटल जनित इन्फेक्शन में - एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस की मात्रा बहुत ज़्यादा होती है। ये बहुत सालों से होता आया है। यहाँ तक कि डॉक्टरों की शिक्षा में ये कहा गया है कि जहाँ तक हो सके अस्पताल में बीमार रोगी का रहना जितने कम दिनों तक हो उतना ही अच्छा है। रोगी घर जाए तो अच्छा है। लेकिन ये भी एक वजह है जिससे अस्पताल का जो रेज़िस्टेंस वाला बैक्टीरियम है वो रोगी के साथ जाकर समुदाय में पहुँचता है। तो यहीं से जीव-विज्ञान और सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था एक-दूसरे के साथ बात करने लगते हैं। और हमें ये कभी नहीं भूलना चाहिए कि ये लेन-देन जारी है।

प्रतिरोध के मैकेनिज़्म

अब जो रेज़िस्टेंस है वो किस तरीके से होता है - वो चार तरीके होते हैं। एक तरीका यह होता है कि बैक्टीरिया अपने आप में एक पम्प बना लेता है। जैसे ही एंटीबायोटिक उसके अन्दर आए, इससे पहले कि एंटीबायोटिक का बुरा असर बैक्टीरिया पर पड़े वो पम्प के सहारे एंटीबायोटिक को बाहर फेंक देता है। तो उसके अन्दर इतना एंटीबायोटिक जमा ही नहीं होता कि उस पर कोई बुरा असर हो। ये रही एक बात। दूसरी बात ये कि एंटीबायोटिक बैक्टीरिया की जिन जैविक प्रक्रियाओं पर काम करता है, उन जैविक प्रक्रियाओं को बैक्टीरिया थोड़ा बदल दे; बिलकुल थोड़ा-सा बदल दे तो एंटीबायोटिक काम करना बन्द कर देता है। ये हुई एक टेक्निकल बात कि किस माध्यम से, किन प्रक्रियाओं के ज़रिए बैक्टीरिया एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस बनाता है।

मैं आपको टेक्निकल बात दूसरे तरीके से भी समझा सकता हूँ। मैं ये बता सकता हूँ कि बैक्टीरिया में जो रेज़िस्टेंस आता है वो कैसे आता है।

जो बैक्टीरिया है उसमें दो अलग-अलग किस्म के *हेरिटेबल एलिमेंट* (वंशानुगत घटक) होते हैं। *हेरिटेबल एलिमेंट्* का मतलब है कि जब बैक्टीरिया का विभाजन होता है - एक के दो, दो के चार, चार के आठ होते हैं - तब हर विभाजन के साथ वो *हेरिटेबल एलिमेंट*, बैक्टीरिया की जो नई कोशिकाएँ बनी हैं, उनमें चले जाते हैं। बैक्टीरिया का जो डीएनए है... अगर उसमें ही ऐसा बदलाव आ जाए कि बैक्टीरिया में एक पम्प काम करने लगे या बैक्टीरिया में जो एंज़ाइम है उसमें थोड़ा बदलाव आ जाए ताकि वो एंज़ाइम एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंट हो जाए। ये हुई बैक्टीरिया के डीएनए की बात। लेकिन साथ-साथ बैक्टीरिया में एक ऐसा डीएनए भी है जिसे प्लाज़्मिड कहते हैं जो बैक्टीरिया के अपने क्रोमोज़ोम में नहीं है। लेकिन फिर भी कई अलग-अलग प्रजातियों के बैक्टीरिया इस डीएनए एलिमेंट का आपस में लेन-देन करते हैं। प्लाज़्मिड में अगर ऐसा जीन है जिससे बने प्रोटीन से एंटीबायोटिक ही डाइजेस्ट हो जाए (पच जाए) यानी एंटीबायोटिक का डीग्रेडेशन (विघटन) हो जाए तो इस प्लाज़्मिड से बैक्टीरियल रेज़िस्टेंस पैदा हो जाएगा। जो पहले किस्म का *हेरिटेबल एलिमेंट* है वो बैक्टीरिया की एक प्रजाति अपने में रखती है। अगर *साल्मोनेला टाइफी* जो टाइफाइड बुखार पैदा करता है की बात करें, अगर उसके अपने क्रोमोज़ोम में बदलाव आ जाए तो वो *साल्मोनेला टाइफी* तक सीमित रहेगा क्योंकि इसकी जितनी भी कोशिकाएँ बनेंगी उन सब में वो बदलाव आएगा। लेकिन वो *साल्मोनेला टाइफी* के लिए ही होगा। पर प्लाज़्मिड की बात बिलकुल अलग ही है। *साल्मोनेला टाइफी* किसी अन्य बैक्टीरिया जैसे (*स्यूडोमोनास*) के साथ प्लाज़्मिड का लेन-देन कर सकता है। इसे 'हॉरीज़ॉन्टल (क्षैतिज) जीन ट्रांसफर'[3] कहते हैं और 'हॉरीज़ॉन्टल जीन ट्रांसफर' के ज़रिए बैक्टीरिया की अलग-अलग प्रजातियों के बीच एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस जीन का लेन-देन हो सकता है। और ये एक बड़ी अलग ही बात है क्योंकि इसके ज़रिए बेहद अलग-अलग बैक्टीरियल प्रजातियों में एक एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस जीन फैल सकता है।

ये सब सच है और ये सब हम मानते हैं। लेकिन सवाल ये है कि फैलाव करने के लिए जो व्यवस्थाएँ हैं वो किन्होंने बनाई हैं? और उसका उत्तर है - हमने बनाई हैं। तो पहली बात जो मैंने कही कि अस्पताल में रोगी को भर्ती करो, ज़रूरत हो या न

[3] *हॉरिज़ॉन्टल ट्रांसफर यानी कि एक प्रजाति की एक ही पीढ़ी के सदस्यों के बीच या भिन्न प्रजातियों के सदस्यों के बीच आनुवंशिक पदार्थ यानी कि डीएनए का लेन-देन। ये बैक्टीरिया में सहजता से होता है। बैक्टीरिया अपने पर्यावरण में से विघटित कोशिकाओं के डीएनए अपनी कोशिकाओं में ले पाते हैं।*

हो। मरीज़ को अस्पताल में चन्द दिनों तक रखो, ज़रूरत हो या न हो। ये दो कारण शुरुआत करा देते हैं एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस को फैलाने की। लेकिन फिर भी कई सालों तक एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस का मामला बड़ा सीमित था। मैं जब मेडीकल कॉलेज में गया 70 के दशक में तब भी एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस था। लेकिन सीमित पैमाने पर। बहुत बड़े पैमाने पर एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस दिखाई नहीं देता था।

एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस फैलने के कारण हम हैं, एक कारण तो मैंने ये बताया। लेकिन इसके फैलने का दूसरा कारण डॉक्टर नहीं हैं। दूसरा कारण भी हम हैं। क्यों? हम अक्सर कहते हैं खाँसी-ज़ुकाम है, क्यों न एंटीबायोटिक खा लें। अब आम तौर पर ज़ुकाम वायरस की वजह से होता है, न कि बैक्टीरिया की वजह से। फिर भी जब ज़ुकाम होने लगता है तो हम में से कई लोग केमिस्ट की दुकान पर पहुँच जाते हैं और कहते हैं कि "भई वो एक पत्ती दे देना सिप्रोफ्लॉक्स की।" आपने एक सिप्रोफ्लॉक्स ले लिया। सिप्रो-फ्लॉक्स कम-से-कम पाँच-छः दिन खाना होता है। मगर अपन दो दिन खा लेते हैं और फिर कहते हैं कि "अब तो ठीक हो गया। रख लो तुम। बिट्टु के काम आएगी!" ठीक है न? तो बात क्या हुई? जो बैक्टीरिया आस-पास हैं उनका हम कम मात्रा में एक्सपोज़र कराते हैं। 'कम मात्रा में' मतलब ये मारने वाली मात्रा नहीं होती लेकिन इतनी मात्रा ज़रूर होती है कि थोड़ा-बहुत 'सिलेक्शन प्रेशर'[4] उन पर पड़ जाए। और जब सिलेक्शन प्रेशर पड़ जाए तो जिन प्रजातियों को फायदा मिलता है वो बैक्टीरिया की रेज़िस्टेंट प्रजातियाँ होती हैं। तो हम ऐसे बैक्टीरिया को बढ़ावा देते हैं जो रेज़िस्टेंट है। और ये हम अपने लापरवाह व्यवहार से करते हैं। अब आप सोचें कि सरकार या विश्व स्वास्थ्य संगठन कहता आया है कि लोगों को ऐसा नहीं करना चाहिए। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रपटों में बार-बार लिखा हुआ है कि ऐसे कई देश हैं जिनमें बगैर प्रिस्क्रिप्शन के एंटीबायोटिक दवाओं को सीधे दुकान से खरीदा जाता है। और इस वजह से बैक्टीरिया में रेज़िस्टेंस बढ़ता है।

न्यू डेल्ही बीटा लैक्टेमेज़

दो-तीन साल पहले एक नए रेज़िस्टेंस मैकेनिज़्म की खोज हुई। रेज़िस्टेंस पैदा करने वाले उस एंज़ाइम को नाम दिया गया 'न्यू डेल्ही बीटा लैक्टेमेज़'। इससे भारत सरकार को बहुत गुस्सा आ गया कि फिरंगियों ने

[4] *जब भी पर्यावरण में कोई लाभदायक या हानिकारक चीज़ आती है तो जीवों पर एक दबाव बनता है। यदि हानिकारक चीज़ है और यदि आपके पास निपटने के उपाय नहीं हैं तो आप मारे जाएँगे। यदि उपाय है तो बच निकलेंगे। इस तरह का दबाव जीवों के बीच चुनाव करता है, इसलिए इसे चुनाव का दबाव या सिलेक्शन प्रेशर कहते हैं।*

हम पर आरोप थोप दिया कि 'न्यू डेल्ही बीटा लैक्टेमेज़' के माध्यम से बैक्टीरिया रेज़िस्टेंट हो रहे हैं। और दिल्ली के कई सीवरों में 'न्यू डेल्ही बीटा लैक्टेमेज़' पाया गया। अब देशाभिमान की बात अगर एक ओर रखें तो ये भी तो है कि एक बैक्टीरियल रेज़िस्टेंस मैकेनिज़्म हमारे यहाँ पाया गया। लेकिन थोड़ा दूसरी ओर से भी गौर कीजिए - वो बात ये है कि हम क्यों डॉक्टर की सलाह के बगैर सीधे केमिस्ट से दवाई खरीदते हैं? कोई तो वजह होगी। वो वजह क्या है? तो वजह ये है कि डॉक्टर के पास जाना आसान नहीं है। जाकर घण्टों बैठना पड़ता है। अगर बड़ी गम्भीर बीमारी है तब तो इलाज के लिए जाकर बैठते ही हैं। लेकिन अगर छोटी बीमारी हो तो बैठने का मन नहीं करता क्योंकि काम से छुट्टी लेकर वहाँ बैठना पड़ता है। वक्त भी ज़ाया होता है और पैसे भी जाते हैं। अगर सरकारी अस्पतालों में जाओ तो और भी वक्त लगता है। और सरकारी अस्पताल में जाओ भी तो कभी-कभार ही मुफ्त में एंटीबायोटिक मिलती है, आम तौर पर नहीं मिलती। वो चिट्ठी लिखवा देते हैं कि बाहर जाकर केमिस्ट की दुकान से खरीदो और अपनी जेब से पैसे दे दो। अब अगर केमिस्ट की दुकान से खरीदना ही है तो बीच में चार घण्टे क्यों बिताएँ? खुद ही चले जाते हैं केमिस्ट के पास। "और केमिस्ट तो अपने बबलू के कॉलेज का दोस्त है। वो तो ऐसे ही दे देगा अपने को।" ठीक है ना! तो ये जो समस्या खड़ी हुई है इसका हल ये नहीं है कि सरकार या विश्व स्वास्थ्य संगठन हमसे कहे कि ये मत करो। इसका हल ये है कि हमको ये कहना चाहिए कि जो सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्थाएँ हैं उनमें सुधार हो। उनमें इतना सुधार हो कि किसी को ये महसूस न हो कि मैं डॉक्टर के पास जाऊँ तो वक्त बरबाद होगा और फायदा कुछ नहीं होगा इसलिए मैं जाकर सीधा एंटीबायोटिक खरीद लेता हूँ। इस हद तक अगर सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्थाओं में सुधार हो तब कहीं जाकर कोई स्थिर व्यवस्था बनेगी। भाषण देकर व्यवस्था नहीं बदलेगी। व्यवस्था में अगर ऐसा बदलाव लाना है तो बड़े पैमाने पर सिविल सोसायटी और गैर-चुनावी राजनीति का मसला है। हमें कभी भूलना नहीं चाहिए कि मुद्दे सिर्फ टेक्निकल नहीं होते। हर टैक्निकल मुद्दे का एक सामाजिक-आर्थिक पक्ष होता है।

एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस के आगे

ये एक बात हुई – एंटीबायोटिक से हम कैसे जूझें, इसकी बात। अब आखिरी मुद्दे पर आते हैं और वो मुद्दा ये है कि आगे क्या करना है। तो मैं कहूँगा कि अभी तक की बात में मैंने जो कहा वो एक पक्ष है कि हमें ये कहना चाहिए कि एंटीबायोटिक दवाओं का दुरुपयोग ना हो इसके लिए स्वास्थ्य व्यवस्था में जो मूलभूत बदलाव लाने चाहिए उनकी हमें ज़रूरत

है और उनके लिए हमें आन्दोलन खड़े करने चाहिए। ये हुई एक बात।

लेकिन (इसे) दूसरे नज़रिए से भी देखिए। ये नज़रिया क्या है? एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस बहुत बढ़ा है। एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस के लिए एक शुद्ध तकनीकी उपाय ये है कि इन एंटीबायोटिक दवाओं के खिलाफ अगर रेज़िस्टेंस आया है तो नए एंटीबायोटिक ईजाद कर दो! इसमें कौन-सी बड़ी बात है? नए एंटीबायोटिक कैसे ईजाद होते हैं इस पर बात करने से पहले सुपर बग की बात करता हूँ। सुपर बग कहा जाता है एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस बैक्टीरिया को। क्यों कहा जाता है? क्योंकि इसे आसानी से मार नहीं सकते। लेकिन हम सुपर बग के बारे में सोचते हैं कि ये बहुत ही डरावना व भंयकर बैक्टीरिया है जो बहुत ज़्यादा बीमारी पैदा कर सकता है। आपके दिमाग में जब मीडिया सुपर बग कहती है तो तस्वीर बनती है कि ये कोई भयंकर विनाशकारी बैक्टीरिया है। क्या सचमुच ऐसा है? तो इसके लिए थोड़ा जीव-विज्ञान की तरफ देखिए।

रेज़िस्टेंस पैदा करने के लिए बैक्टीरिया को क्या करना पड़ता है? उसको अपने आप में कुछ बदलाव करने पड़ते हैं। चाहे एक ऐसा पम्प बनाना पड़ता है जिसके ज़रिए वो एंटीबायोटिक को बाहर फेंक पाए या कोई ऐसा एंज़ाइम बनाना पड़ता है जिससे वो एंटीबायोटिक को खण्डित कर पाए। जो कुछ बैक्टीरियम करता है वो अगर एंटीबायोटिक न होता तो उसे करना नहीं पड़ता। इसका मतलब ये कि एंटीबायोटिक की वजह से वो अधिक जैव प्रक्रिया करने के लिए मजबूर होता है। और अगर वो अधिकाधिक जैव प्रक्रिया को इस्तेमाल करने के लिए मजबूर है तो ज़ाहिर है कि जीव-विज्ञानी जिसे 'फिटनेस कॉस्ट' (जीवित बच पाने की क्षमता की लागत) कहते हैं वो उसके लिए बहुत ज़्यादा है, मतलब उसकी फिटनेस कम हो गई। अगर बैक्टीरियम को कोई चीज़ बनानी पड़ी जिस पर उसकी ऊर्जा व्यय हुई है और जो उसे सामान्य हालत में नहीं करनी पड़ती तब वह असल में ऊर्जा की भारी मात्रा खर्च कर रहा है जो उसे नहीं करनी पड़ती अगर एंटीबयोटिक नहीं होता और एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस की ज़रूरत ही नहीं होती।

अगर यह सच है तो प्रयोग से प्रमाणित हो सकता है और ऐसा प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण देता हूँ। मैं जब 70 के दशक में मेडिकल कॉलेज में था बल्कि उससे पहले मेरे बचपन के समय से ही *साल्मोनेला टाइफी* के लिए 'क्लोरोमाइसिटिन' लिया जाता था। मेरी उमर के जितने भी बुज़ुर्ग यहाँ बैठे हैं उन्हें याद होगा कि क्लोरोमाइसिटिन या क्लोरेमफेनिकॉल लिया जाता था जब टाइफॉइड होता था उस ज़माने में। क्लोरोमाइसिटिन का उपयोग इस हद तक किया गया कि *साल्मोनेला टाइफी* बैक्टीरिया

क्लोरोमाइसिटिन रेज़िस्टेंट हो गया। यहाँ तक कि जब मैं एम.डी. की पढ़ाई कर रहा था तब ये परामर्श दिया गया कि टाइफॉइड बुखार के लिए क्लोरोमाइसिटिन इस्तेमाल न किया जाए क्योंकि आम तौर पर वो काम नहीं करता है। तो चिकित्सक दूसरे एंटीबायोटिक का इस्तेमाल करने लगे। क्लोरोमाइसिटिन का इस्तेमाल बिलकुल बन्द हो गया। अब पिछले पाँच-दस सालों में ये हुआ कि अगर आप आज के साल्मोनेला नीश का टेस्ट करो तो उनमें आपको कई सारे बैक्टीरिया मिलेंगे जो क्लोरोमाइसिटिन के प्रति संवेदनशील हैं। ऐसा क्यों हुआ है? क्योंकि क्लोरोमाइसिटिन का सिलेक्शन प्रेशर हट गया। जैसे ही सिलेक्शन प्रेशर हट गया तो जो क्लोरोमाइसिटिन के प्रति रेज़िस्टेंट बैक्टीरियम थे वे ज़्यादा 'फिटनेस लागत' के कारण मार खा गए! ये प्राकृतिक चक्र है। जब तक सिलेक्शन प्रेशर होता है, तब तक एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस बना रहता है। जब सिलेक्शन प्रेशर हटा दिया जाता है तो उस प्रजाति में एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस खत्म होने लगता है।

मल्टी ड्रग रेज़िस्टेंस

ऐसे में क्या हम ये कह सकते हैं कि ऐसी सार्वजनिक स्वास्थ्य नीति बनाई जाए कि हमारे पास जितने एंटीबायोटिक हैं उनमें से कइयों को बचाकर रखेंगे? उनका इस्तेमाल अभी नहीं करेंगे। इन एंटीबायोटिक का इस्तेमाल कब करेंगे? बीस या तीस साल बाद जब बैक्टीरिया आजकल इस्तेमाल किए जा रहे एंटीबायोटिक के खिलाफ रेज़िस्टेंट हो जाएगा और (बचाकर रखे गए एंटीबायोटिक्स) के खिलाफ नहीं होगा। तब हम पहले वाले को रिज़र्व में रखेंगे और दूसरे वालों को काम में लाएँगे। ऐसा कुछ हद तक कर सकते हैं। लेकिन बहुत बड़े पैमाने पर नहीं कर सकते। क्यों? क्योंकि बैक्टीरिया एक-दूसरे के साथ रेज़िस्टेंस की लेन-देन करते हैं और इसलिए वे सिर्फ एक एंटीबायोटिक से रेज़िस्टेंट नहीं होते बल्कि अनेक एंटीबायोटिक के प्रति रेज़िस्टेंट हो जाते हैं। 'मल्टी ड्रग रेज़िस्टेंट' हो जाते हैं। पिछले दस सालों में ये बहुत बड़े पैमाने पर (टीबी) बैक्टीरियम के साथ हुआ है। मेरे कॉलेज के दिनों में जो दवाएँ ट्युबरक्युलोसिस पर काम करती थीं जैसे आइसोनिएज़िड, स्ट्रेपटोमाइसिन, पैरासैलीसिलिक एसिड वो आज काम नहीं करतीं।

सो मात्र एक रवैया अपनाकर काम नहीं चलेगा, हमें बहुत सारे मार्ग ढूँढ़ने पड़ेंगे कि किस तरीके से हम इस समस्या को हल करेंगे। उसमें एक बात ये है कि एक ज़माने में जब एंटीबायोटिक नहीं था तो क्या हर इन्फेक्शन का अंजाम मौत होती थी? नहीं! कई लोग फिर भी ज़िन्दा रह जाते थे। वो कैसे बच जाते थे? उनकी जो प्रतिरक्षा व्यवस्था या इम्यून सिस्टम था वो बैक्टीरिया से निपट लेता था।

अब एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंस बैक्टीरिया को प्रतिरक्षा तंत्र के विरुद्ध प्रतिरोध नहीं देता है, वो तो सिर्फ एंटीबायोटिक के खिलाफ रेज़िस्टेंस देता है। तो हम ऐसे सोच सकते हैं कि बैक्टीरिया का इन्फेक्शन जिनमें हुआ है उन लोगों में क्या हम इम्यून रेज़िस्टेंस को बढ़ावा दे सकते हैं? अगर हम ऐसी रणनीतियाँ ईजाद कर पाएँ तो एंटीबायोटिक रेज़िस्टेंट बैक्टीरिया के खिलाफ हमें एक रास्ता मिल जाएगा। ऐसी कई रणनीतियों पर शोध चल रहा है।

लेकिन जो पुराने एंटीबायोटिक हैं उनका क्या होगा? क्यों ना हम नए एंटीबायोटिक ईजाद कर लें? इसमें क्या परेशानी है? सवाल है कि एंटीबायोटिक कैसे काम करते हैं। जैसा मैंने कहा कई एंटीबायोटिक हैं जो बैक्टीरिया के डीएनए का विभाजन नहीं होने देते जिससे नए बैक्टीरिया बनते ही नहीं। कई एंटीबायोटिक ऐसे हैं जो बैक्टीरिया द्वारा अपने लिए प्रोटीन बनाने की मशीनरी यानी प्रोटीन सिंथेसिस को बन्द कर देते हैं। इससे बैक्टीरिया में प्रोटीन नहीं बनते हैं जिससे वो खुद की मरम्मत नहीं कर पाता और मर जाता है। तो कई एंटीबायोटिक ऐसे हैं जो बैक्टीरिया की जो आउटर सेल वॉल (कोशिका की बाहरी दीवार) है उसको बनने ही नहीं देते। इससे बैक्टीरिया की कोटिंग (आवरण) ही नहीं रहती और कोटिंग नहीं होने पर बैक्टीरिया बहुत आसानी से बिखर जाते हैं।

बैक्टीरिया की जैव प्रक्रियाएँ

पिछले सत्तर सालों में बैक्टीरिया की चार-पाँच ही जैव-प्रक्रियाएँ खोजी गई हैं जहाँ एंटीबायोटिक काम करते हैं। लेकिन आप मुझसे कहेंगे कि भई हमने तो एंटीबायोटिक को गूगल किया तो 100-150 एंटीबायोटिक की सूची सामने आई। लेकिन अगर आप गूगल में विकिपीडिया में जाएँ तो एंटीबायोटिक की एक तालिका बनी होगी। और उस तालिका में एंटीबायोटिक की सूची होगी और उनकी कार्यप्रणाली होगी। एंटीबायोटिक की सूची 100-150 की होगी लेकिन पाँच-छः ही कार्य-प्रणालियाँ होंगी। यानी कि उसी एक जैव-प्रक्रिया पर हमने एक-दो से लेकर पन्द्रह-बीस एंटीबायोटिक बनाई हैं। इसका मतलब हम कह सकते हैं कि अगर बैक्टीरिया की और जैव प्रक्रियाएँ हमारी समझ में आती हैं तो जिन जैव प्रक्रियाओं के खिलाफ हमारे पास आज एंटीबायोटिक नहीं हैं उनके लिए हम नए एंटीबायोटिक ईजाद कर सकते हैं। ये कौन करेगा? मैंने शोध की बात की। एक शोध इसका कि इम्यून रेज़िस्टेंस बढ़ाएँ। दूसरा शोध इसका कि बैक्टीरिया की जैव प्रक्रियाओं को और भली-भाँती समझें ताकि हम 'इन्टरवेन्शन प्वॉइंट्स' (हस्तक्षेप के बिन्दुओं) की सूची और बढ़ा सकें। ये खोज कौन करेगा?

तो अन्त में घूमकर मैं वापस सामाजिक-आर्थिक मुद्दों पर आता हूँ। सवाल है कि ये शोध कौन करता

है? बहुराष्ट्रीय दवा कम्पनियाँ कहती हैं कि हम करते हैं! उसी लिए तो हमें पेटेंट चाहिए। उसी लिए नए एंटीबायोटिक की एक गोली का दाम हज़ार रुपए है क्योंकि हम ये शोध करते हैं। करीब से देखो तो बड़े मज़े की बात सामने आती है। जो एंटीबायोटिक शोध बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में होता है वो आम तौर पर किस पर होता है? कुछ अपवाद ज़रूर हैं मगर मोटे तौर पर किस पर होता है? उस जैव प्रक्रिया पर जिसके खिलाफ हमारे पास एंटीबायोटिक पहले से हैं। ऐसा क्यों है? एक तो उसी जैव प्रक्रिया को लेकर शोध किया जाता है क्योंकि हमें मालूम है कि उस जैव प्रक्रिया को रोक कर बैक्टीरिया को मारा जा सकता है। ये शोध की 'लो रिस्क स्ट्रैटेजी' (अल्प जोखिम की रणनीति) है। उसी जैव प्रक्रिया को लेकर हम और फफूँद प्रजातियों में एंटीबायोटिक ढूँढ़ेंगे। ये शोध की एक दिशा हुई।

दूसरी दिशा है कि एक एंटीबायोटिक लें जो किसी जैव प्रक्रिया पर काम करता है। अगर हम इस एंटीबायोटिक का स्ट्रक्चर (संरचना) बदलें - कई बदलाव उसकी एंटीबायोटिक गुणवत्ता को कम कर देंगे लेकिन कई ऐसे भी होंगे जो उसकी एंटीबायोटिक गुणवत्ता को बढ़ा देंगे। अगर हमें पता है कि कोई मॉलिक्यूल या यौगिक अच्छा काम करता है तो क्यों न हम इसी में ऐसे बदलाव कराएँ ताकि हमें अलग-सा पेटेंट मिले। लेकिन फिर भी ये 'लो रिस्क स्ट्रैटेजी' है और गुणवत्ता बढ़ाकर हम नए एंटीबायोटिक कहकर इसे बेचते हैं। आम तौर पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की जो नई एंटीबायोटिक ईजाद करने की दिशाएँ हैं इस ओर ज़्यादा हैं।

क्या होंगे इसके हल?

और हमने जो दो बातें पहले कहीं कि इम्यून रेज़िस्टेंस को बढ़ावा दें या नई जैविक प्रक्रियाएँ खोजें जिनके ज़रिए हस्तक्षेप के नए बिन्दु मिलें जिनके लिए नए एंटीबायोटिक खोजे जाएँ – इनकी ओर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का ध्यान कम है, और कम जोखिम वाली रणनीतियों पर ज़्यादा है। तो जो कम्पनियों के लिए अधिक जोखिम भरा है वो कौन करेगा? अब आज दुनिया भर में सरकारें कहती हैं कि सरकारी पैसा शोध में जाना ठीक नहीं क्योंकि सरकार के पास शोध के लिए पैसा कम है। इसलिए सार्वजनिक-निजी साझेदारी (पब्लिक-प्रायवेट पार्टनरशिप) में या सीधे कम्पनियों को ठेका देकर क्यों न कम्पनियों से ही शोध करवाएँ। लेकिन आपने अभी देखा कि कम्पनियाँ किस तरीके से शोध करती हैं। मैं कम्पनियों को दोष नहीं देता। कम्पनियों का काम है कि जितने कम दाम में जितना ज़्यादा मुनाफा हो सके, उतना कमाएँ। वो तो अपना काम कर रहे हैं। मैं ये भी नहीं कहता कि वो जो कहते हैं, वो जो करते हैं उससे फायदा नहीं है। फायदा तो ज़रूर है। लेकिन उतना काफी नहीं और इससे ज़्यादा जो करने की ज़रूरत

है वो कम्पनियाँ कतई नहीं करेंगी। वो कौन करेगा? वो आप करेंगे, हम करेंगे। वो सार्वजनिक हित के लिए लोगों की नज़र में सार्वजनिक वित्त से पोषित होने वाले सार्वजनिक संस्थान करेंगे। इसके अलावा कोई दूसरा चारा नहीं है।

तो यहाँ पर आकर मैं बात रोकता हूँ कि हमने चन्द तकनीकी बातें देखीं लेकिन हमने सामाजिक-आर्थिक बातें भी देखीं - जिन बातों को हमें मद्देनज़र रखना चाहिए। अगर हम इस समस्या का हल निकालना चाहते हैं जिस तरह दूसरी सामाजिक-आर्थिक बातें होती हैं वैसी ये भी हैं - जो अन्य सामाजिक-आर्थिक बातों से जुड़ी हुई हैं जिनको ध्यान में रखना चाहिए। एक व्यापक नज़रिए से इसे देखने की ज़रूरत है। और तकनीकी व प्रौद्योगिकी के मुद्दों के बारे में, मूलभूत शोध के मुद्दों के बारे में और सामाजिक-आर्थिक मुद्दों के बारे में बहुत बड़े और विस्तृत पैमाने पर हमें इस समस्या के बारे में सोचना चाहिए। हमें इस समस्या के बारे में सरकार से माँगें करनी चाहिए। तब कहीं जाकर हम इस समस्या के साथ लम्बे अर्से तक जूझ पाएँगे। यहीं पर मैं अपनी बात खत्म करता हूँ। आप सबने मुझे सुना इसके लिए धन्यवाद।

सत्यजित रथः *राष्ट्रीय प्रतिरक्षाविज्ञान संस्थान* में वैज्ञानिक हैं। पुणे से एम.बी.बी.एस., मुम्बई से एम.डी. (पैथोलॉजी) के बाद *हैफ्किन इंस्टिट्यूट, ब्रैनडाइस युनिवर्सिटी* व *येल युनिवर्सिटी स्कूल ऑफ मेडिसिन* में पोस्ट-डॉक्टोरल शोध किया। चार दशकों से प्रतिरक्षा तंत्र पर शोध के साथ-साथ विज्ञान शिक्षण व लेखन और स्वास्थ्य व चिकित्सा से जुड़े सामाजिक व आर्थिक मुद्दों में रुचि।

प्राथमिक लिप्यान्तरणः अनु सारथीः मुस्कान संस्था से जुड़ी हैं।

लिप्यान्तरण एवं सम्पादनः लोकेश मालती प्रकाशः भोपाल में रहकर स्वतंत्र लेखन एवं अनुवाद कार्य कर रहे हैं। शिक्षा के आन्दोलन से सक्रिय रूप से जुड़े हैं।

क्या एंटीबायोटिक दवाएँ बेकार हो जाएँगी? विषय पर यह व्याख्यान सत्यजित रथ ने *एकलव्य* द्वारा आयोजित जनविज्ञान व्याख्यान के अन्तर्गत 14 जून 2014 को स्वराज संस्थान, रवीन्द्र भवन, भोपाल में दिया था।

✦✦✦✦✦